



# मङ्गलायतन



श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ ( उ.प्र. ) का  
मासिक मुखपत्र

वर्ष-12, अङ्क-11

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व ( वि.नि.सं. 2539 ) नवम्बर 2013

## जान लियो संसार

( राग-सोरठ )

हमकों कछू भय ना रे, जान लियो संसार ॥हमकों०  
जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोखमंझार ।  
निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार ॥हमकों०  
परवश ह्वै आपा विसारिकै, राग दोष कों धार ।  
जीवत मरत अनादि कालतें, यों ही है उरझार ॥हमकों०  
जाकरि जैसैं जाहि समय में, जावे होतब जा द्वार ।  
सौ बनि है टरि है कछु नाहीं, करि लीनों निरधार ॥हमकों०  
अगनि जरावै पानी बोवै, बिछुरत मिलत अपार ।  
सो पुद्गल रूपी में बुधजन, सबकौ जाननहार ॥हमकों०

- कविवर बुधजन

## क्षमापना

आत्मशुद्धि के महान पर्व दशलक्षण एवं क्षमावाणी के  
पावन अवसर पर विश्व के समस्त प्राणियों से  
विगत वर्ष में हुए ज्ञात-अज्ञात सभी अपराधों के  
प्रति शुद्ध अन्तःकरण से क्षमाप्रार्थी हैं ।

मङ्गलायतन मासिक पत्रिका परिवार

**संस्थापक सम्पादक**

स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़

**प्रधान सम्पादक**

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन

**सम्पादकीय सलाहकार**

पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल, जयपुर

पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन

श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर

श्री प्रवीणचन्द्र पी. चोरा, देवलाली

श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई

श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी

श्री विजेन वी. शाह, लन्दन

पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

**सम्पादक मण्डल**

ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण

बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़

डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

श्रीमती बीना जैन, देहरादून

**भूतपूर्व मुख्य सलाहकार**

स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

**मुख्य सलाहकार**

श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

**मार्गदर्शन**

डॉ. किरिटभाई गोसलिया, अमेरिका

श्री लक्ष्मीचन्द्र बी. शाह, लन्दन

श्री पवन जैन, अलीगढ़

पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

प्रस्तुत अङ्क-प्रकाशन में सहयोग

**स्व० शीतलप्रसाद****शकुन्तलादेवी जैन****आजाद ट्रेडिंग कम्पनी****जैन मन्दिर के नीचे****लाल कुआँ, बुलन्दशहर।****शुल्क :**

वार्षिक : 50.00 रुपये

एक प्रति : 04.00 रुपये

**जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व  
विशेषाङ्क****क्या / कहाँ**

देह में आत्मबुद्धि से संसार....	3
सम्यग्दर्शन का व्यवहार	5
भाई-बहिन की धर्मचर्चा	16
संसार-दर्शन	18
सत का बहुमान हुए.....	20
यह मनुष्यत्व प्राप्त करके.....	23
सम्यग्दर्शन का राजमार्ग	27
आत्मा को प्रसन्न करने की धगश	30
समाचार-दर्शन	31

पं. सं. : DELBIL/2001/4685

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा मङ्गलायतन मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन।



समाधितन्त्र ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन  
देह में आत्मबुद्धि से संसार....

## भेदज्ञान के अभ्यास से मुक्ति

जीव जब तक शरीरादिक में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति करता है, तभी तक संसार है; और भेदज्ञान होने पर वह प्रवृत्ति मिट जाती है एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है—ऐसा अब कहते हैं—

स्वबुद्ध्या यावद्गृहीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।

संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

‘हैं मेरे मन-वचन-तन’ - यही बुद्धि संसार।

इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार ॥ ६२ ॥

**अर्थात्** जब तक शरीर, वचन और मन — इन तीनों को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक संसार है और जब इन मन, वचन, काय का आत्मा से भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है, तब मुक्ति की प्राप्ति होती है।

काय-वचन और मन, यह तीनों में हूँ—इस प्रकार जहाँ तक स्वबुद्धि से जीव उन्हें ग्रहण करता है, तब तक मिथ्याबुद्धि के कारण उसे संसार है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि मुझसे पृथक् हैं—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक भेद के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

मैं ज्ञाता चिदानन्दस्वरूप हूँ; इस प्रकार जो अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण नहीं करता, और मैं शरीर-मन-वाणी हूँ—इस प्रकार ग्रहण करता है, वह मूढ़ जीव, बहिरात्मा है; जब तक शरीरादिक को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, तभी तक संसार है और मैं तो चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; शरीर-मन-वाणी मैं नहीं, यह सब मुझसे भिन्न हैं—ऐसे भेदज्ञान के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

जड़ के साथ एकत्वबुद्धि, वह संसार का कारण है और भेदज्ञान का



अभ्यास-अर्थात् देहादि से अत्यन्त भिन्न, ऐसे चैतन्यतत्त्व की बारम्बार भावना, वह मुक्ति का उपाय है। भेदज्ञान से ही मोक्ष के उपाय का प्रारम्भ होता है और पश्चात् भी भेदज्ञान की भावना से ही मुक्ति होती है।

नियमसार में कहते हैं कि—‘ऐसे भेद का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है, इससे चारित्र्य होता है।’ भेदज्ञान ही मोक्ष का कारण है। समयसार में कहा है कि जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो जीव बँधे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं। अतः

**भावयेत्भेदविज्ञानंइदमच्छिन्नधारया।**

**तावत् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥130 ॥**

अच्छिन्नधारा से इस भेदज्ञान की तब तक भावना करनी चाहिए कि जब तक ज्ञान, परभावों से छूटकर ज्ञान में ही लीन न हो जाय। देखो, ऐसे भेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। जो अभी तो ऐसा मान रहा है कि देह-वाणी, वह मैं हूँ; उनका काम मैं करता हूँ—वह तो देह से भिन्न आत्मा का ध्यान कब करेगा? और उसको समाधि या मोक्षमार्ग कहाँ से होगा? वह तो पर में लीन होकर संसार में भटकेगा।

आत्मा तो स्व-पर प्रकाशक ज्ञाता है। यह आँख तो जड़ है, वह कुछ देखती नहीं; यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी सब जड़ हैं, ये कोई आत्मा नहीं हैं; आत्मा तो अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप है—इस प्रकार जिसके श्रद्धा-ज्ञान चारित्र्य में पर से भिन्न चैतन्यतत्त्व का स्वीकार है, वह जीव, मुक्ति को प्राप्त करता है और परद्रव्यों को जो एकत्वबुद्धि से ग्रहण करता है, वह संसार में भटकता है।

जो शरीर-मन-वाणी को ही अपना स्वरूप मानता है, उसे शरीरादि जड़ से भिन्न अपना ज्ञान-आनन्दस्वरूप भासित नहीं होता, अर्थात् शरीरादिक पर दृष्टि होने से उसको सदा असमाधि ही रहती है। ज्ञानी तो जानता है कि देह-मन-वाणी किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; उनका चाहे जो हो, मैं तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही हूँ—इस प्रकार भान में-जागृति में



जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व

नव तत्त्व का ज्ञान :

### सम्यग्दर्शन का व्यवहार

जिसे सम्यक्त्व और आत्महित की वास्तविक जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे जीव को संसार सम्बन्धी विषय-कषायों का तीव्र रस तो पहले ही छूट गया होता है, तदुपरान्त सम्यग्दर्शन के लिये प्रयत्न में अन्तर के व्यवहाररूप से उसे सर्वज्ञ द्वारा कथित नव तत्त्व का विचार होता है।

जिसे आत्मा की शान्ति और हितरूप कर्तव्य करना हो, उसे क्या करना ? - यह बात चल रही है। प्रथम तो जीव-अजीव इत्यादि नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानना चाहिए। नव तत्त्वों को माने बिना, नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती और वस्तुस्वभाव की दृष्टि हुए बिना शान्ति अथवा हित नहीं होता।

नव तत्त्व हैं, वे पर्यायदृष्टि से हैं। नव तत्त्वों में अनेकता है, उस अनेकता के आश्रय से एक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती तथा पर्यायदृष्टि में अनेकता है; इस बात को जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की वस्तुदृष्टि नहीं होती। नव तत्त्व के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता, परन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलकर उसका श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नव तत्त्वों का रागरहित सम्यग्ज्ञान आ जाता है। सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च को भले ही नव तत्त्व की भाषा नहीं आती हो, परन्तु उसके ज्ञान में से नव तत्त्व सम्बन्धी विपरीतता दूर हो गयी है।

पहले, राग की मन्दता होकर ज्ञान के क्षयोपशम में नव तत्त्व जैसे हैं, वैसा जानना चाहिए। उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव प्रगट नहीं हो सकता है।

नव तत्त्वों में जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व, वे त्रिकाल हैं, वे मूलद्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप, उस क्षणिक



अवस्था में होते हैं, वे विकारी अंश हैं। जीव में होनेवाले पुण्य-पाप, आस्रव तथा बन्ध - ये चारों तत्त्व, जीव की अवस्था का स्वतन्त्र विकार हैं। वह, त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं है तथा अजीव के कारण भी नहीं है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार होता हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व भिन्न नहीं रहते और यदि अजीव के कारण विकार होता हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादिक तत्त्व भिन्न नहीं रहते; इस प्रकार नव तत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होते; इसलिए नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों भिन्न-भिन्न पहचानना चाहिए।

भगवान आत्मा, अनन्त चेतनशक्ति का पिण्ड ध्रुव है; शरीर आदि अजीव से भिन्न है - ऐसे रागसहित विचार से निर्णय करने को जीवतत्त्व का व्यवहार निर्णय कहा जाता है। इस जगत् में अकेला जीवतत्त्व ही नहीं, परन्तु जीव के अतिरिक्त दूसरे अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में उस अजीव का अभाव है परन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्यतत्त्व का लक्ष्य छूटकर अजीव के लक्ष्य से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व होता है। जो यह मानता है कि अजीवकर्म के कारण जीव को विकार होता है तो वस्तुतः उसने अजीव और आस्रवादि तत्त्वों को एक माना है; इसलिए उसने नव तत्त्वों को स्वतन्त्र नहीं जाना है; अतः उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं हुई है।

नव तत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव - ये तीन कारण हैं और बन्ध, उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु - ये बन्धतत्त्व के नायक हैं। जो पुण्य से धर्म मनवाता है अथवा आत्मा, जड़ का कुछ कर सकता है - ऐसा मनवाता है, वह कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओं को पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के रूप में स्वीकार करके, उनका आदर छोड़नेवाले ने ही बन्धतत्त्व को माना कहा जाता है। कुगुरु, उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के कर्ता हैं; इसलिए उन्हें उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व में जानना चाहिए। जो जीव, विकार में धर्म मनवानेवाले कुगुरुओं को सत्य मानता है, उनका आदर करता है, उसने आस्रव आदि तत्त्वों को संवर-



निर्जरारूप मान लिया है। वस्तुतः उसने नव तत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से, एकाग्रता से ही संवर-निर्जरा होते हैं। पुण्य, उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर-निर्जरा नहीं होने पर भी जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता है और उसे संवर-निर्जरा का कारण मानता है तो इस मान्यता में विपरीतश्रद्धा है और विपरीतश्रद्धा अनन्त संसार का कारण है।

**प्रश्न** - थोड़ी-सी भूल की इतनी बड़ी सजा ?

**उत्तर** - चैतन्यस्वभाव को विकार से लाभ मानना - यह छोटी-सी भूल नहीं है, अपितु महाभयङ्कर अपराध है। उसमें भगवान और देव-गुरु का महा अनादर है। मिथ्यामान्यता द्वारा अनन्त गुण के पिण्ड चैतन्य की हत्या करके विकार से लाभ मानता है, वह महा-अपराधी है; मिथ्यात्व ही महापाप है। जिस प्रकार प्रतीदिन करोड़ों रुपये की आमदनीवाले बड़े राजा का इकलौता पुत्र हो और प्रातःकाल राजगद्दी पर बैठने की तैयारी हुई हो, उस क्षण कोई उसका सिर काट दे तो वह कितना बड़ा अपराध है ? इसी प्रकार चैतन्य राजा अनन्त गुण की सम्पदा का स्वामी है, उसमें से निर्मलदशा प्रगट हो - ऐसा उसका स्वभाव है। उस चैतन्य राजा की निर्मलानन्द प्रजा/पर्याय प्रगट होने के काल में, उसे विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा को अर्थात् निर्मल परिणति को विपरीत मान्यता से हत्या कर दे, वह चैतन्य का महा-अपराधी है। उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में महादुःखरूप नरक-निगोददशा प्राप्त होती है। ऐसे दुःख से छूटने का उपाय कैसे करना ? यह विधि यहाँ सन्त करुणापूर्वक समझाते हैं।

नव तत्त्व में सातवाँ, निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलम्बन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता का अभाव हो और कर्म का खिरना हो - उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में अथवा पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर-निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है; वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। इस प्रकार निर्जरातत्त्व को



नहीं जानकर, पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या रोटी नहीं खाने से निर्जरा होना माने तो उसे व्यवहार से भी नव तत्त्व का पता नहीं है; उसे सत्य विचार का उदय भी नहीं है।

निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है। अशुद्धता से शुद्धता नहीं होती, फिर भी जो अशुद्धता से शुद्धता होना अर्थात् पुण्य से निर्जरा होना मानता है, उसने निर्जरा इत्यादि तत्त्वों को नहीं जाना है। नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भानसहित एकाग्रता बढ़ने पर शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता मिटती है तथा कर्म खिरते हैं, वह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उन्हें गुरु कहते हैं। संवर-निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मलपर्यायें हैं, धर्म है।

संवर-निर्जरा, वह मोक्ष का साधन है। ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्हें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, वे देव हैं और वह संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिन्हें वर्तती है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव, स्वयं धर्म है। इस प्रकार नव तत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

‘तप से निर्जरा होती है’ - ऐसा शास्त्र में आता है, वहाँ लोग आहार छोड़ना, वह तप है और उससे निर्जरा हुई, बाह्य दृष्टि से ऐसा मान लेते हैं। वस्तुतः उन्हें तो तप क्या है और निर्जरा क्या है? इसका भी भान नहीं है। तप से निर्जरा होती है, यह बात सत्य है परन्तु उस तप का स्वरूप क्या है? बाह्यक्रिया से निर्जरा नहीं होती, परन्तु अन्तर में चैतन्यस्वरूप का भान करके, उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उस तप से निर्जरा होती है।

सम्यक् रूप से चैतन्य का प्रतपन होना, वह तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे वास्तविक तप नहीं होता। जो पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानता है, उसे तो, नौवें ग्रेवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि जीव को जैसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा अनन्त बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता





है और उसे धर्म का कारण मानता है, उसने पुण्यतत्त्व और धर्मतत्त्व को नहीं जाना है और उसे धर्म भी नहीं होता है।

आत्मा में शुद्धि की वृद्धि हुए बिना अपने-आप स्थिति पूर्ण होकर, फल देकर कर्मों का खिर जाना सविपाक निर्जरा है। वह निर्जरा तो सभी जीवों को प्रतिक्षण होती है, वह कहीं धर्म का कारण नहीं है तथा आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि के शुभभाव से किञ्चित् अकामनिर्जरा होती है, वह भी धर्म में नहीं गिनी जाती है; अपितु नव तत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से आत्मा में शुद्धता की वृद्धि, अशुद्धता की हानि और कर्मों का खिरना, वह सकामनिर्जरा है, जो कि मोक्ष का कारण है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। विकारमात्र में जीव का बँध जाना अर्थात् अटक जाना, वह बन्धतत्त्व है। जीव को किसी पर के कारण बन्धन नहीं होता, परन्तु अपनी पर्याय, विकारभाव में रुक गयी है, वही बन्धन है। पुण्य-पाप के भावों से आत्मा मुक्त नहीं होता, अपितु बँधता है; इसलिए वे पुण्य-पाप, बन्धतत्त्व का कारण हैं; इसके बदले पुण्य को धर्म का साधन अथवा उसे अच्छा माननेवाला, बन्ध इत्यादि तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझा है। दया, पूजादि शुभभाव अथवा हिंसा, चोरी आदि अशुभभाव - ये सब विकार हैं; इनके द्वारा आत्मा छूटता नहीं है, अपितु बँधता है।

पुण्य और पाप - ये दोनों भाव मलिनभाव हैं, बन्धनभाव हैं। अभी पुण्य करेंगे तो भविष्य में अनुकूल सामग्री प्राप्त होगी और अच्छी सामग्री होगी तो धर्म होगा - ऐसा जिसने माना है, उसने वास्तव में पुण्य को बन्धतत्त्व में नहीं जाना है। वस्तुतः तो पुण्यभाव अलग वस्तु है और अजीव सामग्री अलग स्वतन्त्र वस्तु है। पुण्य और बाह्य सामग्री को मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जो इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से इन्कार करता है, उसे भी पुण्यतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा नहीं है।

जीव को बाह्य अनुकूल सामग्री से धर्म करना अच्छा लगता है किन्तु वस्तुतः इस मान्यता में भी जीव और अजीव की एकत्वबुद्धि है। पहले भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों को जाने बिना अभेद आत्मा की प्रतीति नहीं होती



और उस प्रतीति के बिना धर्म नहीं हो सकता है।

त्रिकाली जीवतत्त्व के कारण बन्ध नहीं होता तथा अजीवतत्त्व के कारण भी जीव को बन्ध नहीं होता। बन्धतत्त्व उस त्रिकाली जीवतत्त्व से भिन्न है तथा अजीव से भी भिन्न है। भावबन्ध तो पर के लक्ष्य से होनेवाली क्षणिक विकारीवृत्ति है, वह बन्धतत्त्व त्रिकाली नहीं है, अपितु क्षणिक है। आत्मस्वभाव को चूककर जो मिथ्यात्वभाव होता है उसे, तथा आत्मभान के पश्चात् भी जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें बन्धतत्त्व जाने और कुतत्त्वों के कहनेवाले कुदेव-कुगुरुओं को भी बन्धतत्त्व में जाने, तब बन्धतत्त्व को जाना कहा जाता है। श्री अरिहन्त भगवान के द्वारा कथित इन नव तत्त्वों को जो नहीं जानता और कुतत्त्वों को मानता है, उसने वास्तव में अरिहन्त भगवान को नहीं पहचाना है और वह अरिहन्त भगवान का भक्त नहीं है।

हे भाई! यदि तू यह कहता हो कि मैं अरिहन्त का भक्त हूँ, मैं अरिहन्त प्रभु का दास हूँ, तो श्री अरिहन्तदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को तो भलीभाँति जान और उनसे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव-कुगुरु का सेवन छोड़! भगवान ने जिस प्रकार कहा, तदनुसार नव तत्त्वों को व्यवहार से भी तू नहीं जाने तो तूने अरिहन्त भगवान को नहीं माना है और तू अरिहन्त भगवान का भक्त, व्यवहार से भी नहीं है। व्यवहार से भी अरिहन्त प्रभु का भक्त वह कहलाता है कि जो उनके द्वारा कथित नव तत्त्वों को जाने और उससे विरुद्ध कहनेवाले अन्य को माने ही नहीं।

देखो, नव तत्त्व को जानने में भी अनेकता का अर्थात् भेद का लक्ष्य है। उस भेद के लक्ष्य में रुके, तब तक व्यवहारश्रद्धा है परन्तु परमार्थश्रद्धा नहीं है। जब उस अनेकता के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से अनुभव करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है और तभी जीव अरिहन्तदेव का वास्तविक भक्त अर्थात् जिनेन्द्र का लघुनन्दन कहलाता है।

जीव स्वयं बन्धनभाव में अटकता है तो उसमें अजीव का निमित्तपना



है। यदि अकेले चैतन्य में जीव के निमित्त बिना भी बन्धन होता हो, तब तो वह बन्धन, जीव का स्वभाव ही हो जाएगा। अकेले चैतन्य में स्वभाव से बन्धन नहीं होता, परन्तु चैतन्य की उपेक्षा करके अजीव के लक्ष्य में अटकने पर बन्धनभाव होता है। अवस्था में क्षणिक बन्धतत्त्व है। इस प्रकार उसे जानना चाहिए।

अरे! बहुत से जीव तो बाहर की धमाल में ही समय गँवा देते हैं परन्तु अन्तर में तत्त्व समझने की दरकार नहीं करते और समझने के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम भी नहीं करते। इन्हें मनुष्यभव प्राप्त करने का क्या लाभ है? अरे भगवान! अनन्त काल में सत् सुनने का और समझने का अवसर आया है; इसलिए आत्मा की दरकार करके समझ रे समझ! 'अभी नहीं, किन्तु बाद में करूँगा' - ऐसा वायदा करने में रूकेगा तो सत् समझने का अवकाश चला जाएगा और फिर अनन्त काल में भी ऐसा अवसर प्राप्त होना कठिन है। सन्तों का ऐसा योग प्राप्त होने पर भी यदि उनके सत्समागम में सत् की प्राप्ति का मार्ग नहीं प्राप्त किया तो तुझे क्या लाभ?

अरे! लक्ष्मी तिलक करने आवे, तब मुँह धोने नहीं जाया जाता। इसी प्रकार यह सत् समझने का और चैतन्यलक्ष्मी प्राप्त करने का अवसर आया है; अपूर्व कल्याण प्राप्त करने का अवसर आया है। इस अवसर में 'बाद में करूँगा, बाद में करूँगा' - ऐसा नहीं होता। यदि इस काल में दरकार करके सत् को नहीं समझेगा तो पुनः ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा? इसलिए प्रथम, आत्मा का पिपासु होकर तत्त्वनिर्णय का उद्यम कर!

नव तत्त्वों में से जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा और बन्ध - इन आठ तत्त्वों का वर्णन हो गया है।

अब नौवाँ, मोक्षतत्त्व है। अनन्त ज्ञान और आनन्दमय आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होना मोक्षतत्त्व है। जो ऐसे मोक्षतत्त्व को पहचानता है, वह सर्वज्ञदेव को पहचानता है; इसलिए वह कुदेवादि को नहीं मानता। जो कुदेवादि को मानता है, उसने मोक्षतत्त्व को नहीं जाना है। मोक्ष तो आत्मा



की पूर्ण निर्मल रागरहित दशा है। उस मोक्षतत्त्व को जानने पर अरिहन्त और सिद्ध भगवान की भी प्रतीति होती है।

अभी तो अरिहन्त भगवान, अजीव वाणी के रजकणों का ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यतानुसार उन रजकणों को छोड़ते हैं – इस प्रकार जो केवली भगवान को अजीव का ग्रहण-त्याग मानता है, उसने अरिहन्त को नहीं पहचाना है। जिसने अरिहन्त का स्वरूप नहीं जाना है, उसने मोक्षतत्त्व को भी नहीं जाना है; मोक्ष के उपाय को भी नहीं जाना है। वस्तुतः उसने नव तत्त्वों को ही नहीं जाना है और नव तत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं होता है।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप से अनन्त केवलज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से परिपूर्ण है। उसका भान करके उसमें एकाग्रतापूर्वक जिन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय प्रगट किया है, वे देव हैं और उन्हें ही मोक्षतत्त्व प्रगट हुआ है। ऐसी मुक्तदशा प्रगट होने के पश्चात् जीव का पुनः कभी अवतार नहीं होता।

अज्ञानी जीव, आत्मा के रागरहित स्वभाव को नहीं जानते और मन्दकषायरूप शुभराग को ही धर्म मान लेते हैं। उस शुभराग के फल में स्वर्ग का भव हो, वहाँ रहने की बहुत लम्बी स्थिति होने से अज्ञानी उसे ही मोक्ष मान लेते हैं तथा उस स्वर्ग में से पुनः दूसरा अवतार होता है; इस कारण अज्ञानी जीव, मोक्ष होने पर भी अवतार होना मान लेते हैं। जीव की मुक्ति होने के पश्चात् पुनः अवतार होना माननेवाले मोक्षतत्त्व को नहीं जानते हैं किन्तु बन्धतत्त्व को ही मोक्षरूप मान लेते हैं। अवतार का कारण तो बन्धन है, उस बन्धन का एक बार सर्वथा नाश हो जाने पर फिर से अवतार नहीं होता है।

आत्मा की पूर्ण चिदानन्ददशा हो गयी, इसका नाम मोक्षदशा है। वह मोक्षदशा होने पर फिर से अवतार अर्थात् संसार परिभ्रमण नहीं होता। वह मुक्त हुए परमात्मा किसी को जगत् का कार्य करने के लिए नहीं भेजते तथा



जगत् के जीवों को दुःखी देखकर अथवा भक्तों का उद्धार करने के लिए स्वयं भी संसार में अवतार धारण नहीं करते, क्योंकि उन्हें रागादि भावों का अभाव है।

जगत् के जीवों को दुःखी देखकर भगवान अवतार धारण करते हैं - ऐसा माननेवाला भगवान अर्थात् मुक्तात्मा को रागी और पर का कर्ता मानता है; उसने मुक्तात्मा को नहीं पहचाना है। पुनर्भवरहित मोक्षतत्त्व को प्राप्त श्री सिद्ध और अरिहन्त परमात्मा, वे देव हैं; जो उन्हें नहीं पहचानता, उसे तो सच्चा पुण्य भी नहीं है।

अक्षय अविनाशी चैतन्यस्वभाव की पूर्णानन्ददशा, वह मोक्षतत्त्व है। उस दशा को प्राप्त करने के पश्चात् जीव को किसी की सेवा करना शेष नहीं रहता। पूर्ण ज्ञान-आनन्द दशा को प्राप्त अरिहन्त परमात्मा, शरीरसहित होने पर भी वीतराग हैं। उन्हें पूर्ण ज्ञान-आनन्द होता है; उन्हें शरीर में रोग नहीं होता, दवा नहीं होती, क्षुधा नहीं लगती; आहार नहीं होता, तथा वे किसी को वन्दन नहीं करते और उनका शरीर स्फटिक के समान स्वच्छ परमौदारिक हो जाता है; वे आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर विचरण करते हैं। जो ऐसे अरहन्त परमात्मा को नहीं मानता, उसने तो मोक्षतत्त्व को व्यवहार से भी नहीं जाना है।

श्री केवली भगवान को अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट हुआ है, वहाँ चार घातिकर्म तो क्षय हुए हैं और चार अघातिकर्म शेष रहे हैं परन्तु वे जली हुई रस्सी के समान हैं। जिस प्रकार जली हुई रस्सी बाँधने के काम नहीं आती; उसी प्रकार अवशेष चार घातिकर्म हैं, उससे कहीं अरिहन्त भगवान को क्षुधा अथवा रागादि नहीं होते - ऐसे अरिहन्त भगवान जीवन्मुक्त हैं और फिर वे परमात्मा, शरीररहित हो जाते हैं, वे सिद्ध हैं। जिन्हें उनकी पहचान होती है, उसे व्यवहार से नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कही जाती है। नव तत्त्व में मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करने से, उसमें अरिहन्त और सिद्ध की श्रद्धा भी आ जाती है।

इस प्रकार जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध



और मोक्ष - ऐसे नव तत्त्व अभूतार्थनय से अर्थात् व्यवहारनय से विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि पर्यायदृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व विद्यमान हैं। उन नव तत्त्वों को जाने बिना चैतन्यतत्त्व की प्रतीति की सीढ़ियों पर नहीं जाया जा सकता। यदि नव तत्त्व के विकल्प में ही रुक जाए तो भी अभेद चैतन्य का अनुभव नहीं होता। अभेद चैतन्यस्वभाव के अनुभव के समय नव तत्त्व के विकल्प नहीं होते; इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं, अविद्यमान हैं। त्रिकाली तत्त्व में नव तत्त्व के विकल्प रहा ही करें - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से तो एक चैतन्यमूर्ति आत्मा ही प्रकाशमान है - ऐसे चैतन्य में एकता प्रगट हो, वह सम्यग्दर्शन है।

देखो! प्रथम, अभेद के लक्ष्य की ओर ढलने पर नव तत्त्व के विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु जब तक उन नव तत्त्व के विकल्प की ओर ही झुकाव रहा करे, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व के भेद का अवलम्बन छोड़कर, अभेद चैतन्य की तरफ ढलकर स्वानुभूतिपूर्वक प्रतीति प्रगट करना, वह नियम से सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अनेकता है। उस अनेकता का लक्ष्य, राग का कारण है; इसीलिए इसे नियम से सम्यग्दर्शन नहीं कहा है। उन नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करनेवाला शुद्धनय है। उस शुद्धनय से एकरूप आत्मा का अनुभव करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करना' - इसका अर्थ यह है कि नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर भूतार्थनय से एकरूप आत्मा को लक्ष्य में लेना। भूतार्थनय में नव तत्त्व दिखाई नहीं देते, अपितु एकरूप ज्ञायक आत्मा ही दिखाई देता है। नव तत्त्वों के सन्मुख देखकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव में एकपना नहीं होता; नव तत्त्वों के समक्ष देखने से तो राग की उत्पत्ति होती है। नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद चैतन्य को शुद्धनय से जानने पर, नव तत्त्वों में एकपना प्रगट किया कहा जाता है।



भेदरूप नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों जाना, वहाँ तक तो आँगन आया है। उस आँगन में आने के पश्चात् अब वहाँ से आगे बढ़कर चैतन्यघर में जाने की और शुद्धस्वभाव की प्रतीति तथा अनुभव करने की यह बात है। तात्पर्य यह है कि अनादि का मिथ्यात्व मिटकर अपूर्व सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रगट हो ? उसकी यह बात है। यहीं से धर्म की प्रथम शुरुआत होती है। नव तत्त्व तो अभूतार्थनय से ही विद्यमान हैं। भूतार्थनय से अभेदस्वभाव में एकपना प्रगट करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। मैं ज्ञायक चैतन्य हूँ - ऐसे अन्तर में विद्यमान स्वभाव के आश्रय की दृष्टि से एक आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय से ऐसा अनुभव होने पर अनादि का मिथ्यात्व मिटकर, अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और धर्म की शुरुआत होती है।

**प्रश्न** - नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहा, किन्तु उसमें तो जीव तत्त्व भी आ गया; इसलिए जीवतत्त्व को भी अभूतार्थ कहा - यह किस प्रकार ?

**उत्तर** - शुद्ध जीवतत्त्व है, वह तो भूतार्थ है परन्तु 'मैं जीव हूँ' - ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प उत्पन्न हो, वह अभूतार्थ है। उस विकल्प के द्वारा जीव को स्वभाव का अनुभव नहीं हो सकता; इसलिए मैं जीव हूँ - ऐसे जीव रागमिश्रित विकल्प को अथवा जीव के व्यवहार भेदों का जीवतत्त्व के रूप में वर्णन करके उन्हें यहाँ अभूतार्थ कहा है - ऐसा समझना चाहिए।

नव तत्त्वों में अनेकता है, उनके विचार में अनेक समय लगते हैं; एक समय में एक साथ नव तत्त्व के विचार नहीं होते। उन नव तत्त्वों के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है और अन्तर में चैतन्य की एकता का अनुभव एक समय में होता है। प्रथम, अभेद चैतन्यस्वभाव में अन्तर्मुख होकर श्रद्धा से चैतन्य में एकपना प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय है, वह तो नव तत्त्व के भेद से आत्मा का अनेकपना प्रगट करता है। उस अनेकपना प्रगट करनेवाले नय से चैतन्य का एकपना/एकत्व प्राप्त नहीं होता और चैतन्य के एकपने की प्राप्ति के बिना रागरहित आनन्द का अनुभव नहीं रहता, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।



मङ्गलायतन संस्कार वाटिका

## भाई-बहिन की धर्मचर्चा

एक जैन सद्गृहस्थ के घर में सभी सदस्य उत्तम संस्कारी थे; इनमें आनन्दकुमार-भाई तथा धर्मवती-बहिन, वे दोनों बाहर की विकथा में या सिनेमा-रेडियो वगैरह में रस न लेकर के प्रतिदिन रात्रि के समय तत्त्वचर्चा करते थे, या महापुरुषों की धर्मकथा के द्वारा आनन्द प्राप्त करते थे। वे भाई-बहिन कैसी अच्छी चर्चा करते थे, उसका नमूना यहाँ दिया है। आप भी अपने भाई-बहिन के साथ में धर्मचर्चा करते ही होंगे! यदि न करते हो तो अब से जरूर करना। आज ही उसका मङ्गल प्रारम्भ कर दो; और फिर आपने कौन सी चर्चा की-वह हमें भी लिखना।

— 'जय महावीर'

**धर्मवती** बहिन कहती है— भैया! अनन्त काल के संसारभ्रमण में हमें ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार मिला है तो अब इस जीवन में हमें क्या करना चाहिए?

**आनन्दकुमार** भाई कहता है— बहिन! मनुष्य जीवन पाकर हमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की आराधना करना चाहिए।

**बहिन**— भैया, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यस्वरूप रत्नत्रय की आराधना कैसे हो?

**भाई**— बहिन! इन रत्नत्रय के मुख्य आराधक तो मुनिराज हैं; वे चैतन्यस्वरूप में लीन होकर रत्नत्रय की आराधना करते हैं।

**बहिन**— भैया जी! आपने कहा कि रत्नत्रय के 'मुख्य' आराधक मुनिराज हैं, तो क्या गृहस्थों के भी रत्नत्रय की आराधना हो सकती है?

**भाई**— हाँ, बहिन! रत्नत्रय के एक अंश की आराधना गृहस्थ के भी हो सकती है।

**बहिन**— क्या हम जैसे छोटे बालक भी रत्नत्रय की आराधना कर सकते हैं?

**भाई**— हाँ, खुशी से कर सकते हैं परन्तु ये रत्नत्रय का मूल बीज सम्यग्दर्शन है; अतः प्रथम उसकी आराधना करना चाहिए।





**बहिन**—अहा, सम्यग्दर्शन की तो अपार प्रशंसा सुनी है। भाई! उस सम्यग्दर्शन की आराधना किस प्रकार से होती है ?

**भाई**—सुन, बहिन! आत्मा की पूरी लगन से, ज्ञानी-अनुभवी के पास से उसकी पक्की समझ करना चाहिए, और फिर अन्तर्मुख होकर उसका अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है।

**बहिन**—ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा का कैसा अनुभव होता है ?

**भाई**—अहा! उसका क्या कहना!! सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव उसमें होता है।

**बहिन**—भैया! मोक्षशास्त्र में कहा है कि 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सो यह श्रद्धा व्यवहार है या निश्चय ?

**भाई**—यह निश्चय श्रद्धा है, क्योंकि वहाँ पर मोक्षमार्ग दिखाना है; और सत्य मोक्षमार्ग तो निश्चयरत्नत्रय ही है।

**बहिन**—तत्त्व कितने हैं ?

**भाई**—तत्त्व नव हैं; और इन तत्त्वों की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है।

**बहिन**—उन तत्त्वों के नाम बताईये।

**भाई**—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध व मोक्ष।

**बहिन**—इन तत्त्वों में से उपादेय तत्त्व कौन-कौन है ?

**भाई**—नव तत्त्वों में से शुद्ध जीवतत्त्व उपादेय है, तथा संवर-निर्जरा आंशिक उपादेय है, मोक्षतत्त्व सर्वथा उपादेय है।

**बहिन**—शेष तत्त्व कौन-कौन रहें ?

**भाई**—अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव तथा बन्ध ये पाँच तत्त्व शेष रहें, वे पाँचों तत्त्व हेय है।

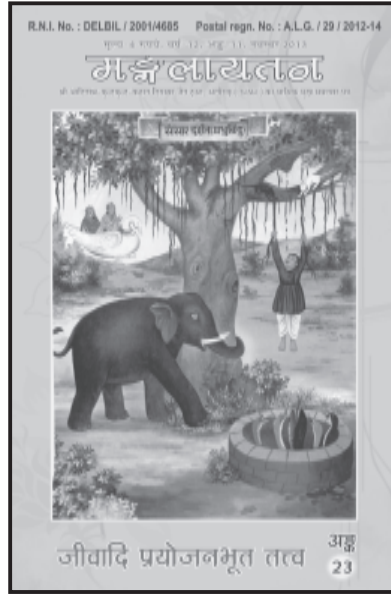
**बहिन**—वाह! आज सम्यग्दर्शन की तथा हेय-उपादेय तत्त्व की बहुत अच्छी चर्चा हुई; इसका गहरा विचार करके सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए।

**भाई**—हाँ बहिन! सभी को यही करनेयोग्य है; जीवन में तू यही प्रयत्न करना, इससे तेरा जीवन सफल और सुखरूप होगा। ●●



## आवरण चित्र परिचय

### संसार-दर्शन



जैसे निर्जनवन में कोई महादरिद्री पुरुष, व्याघ्र के भय से भयभीत हो भाग रहा था। वहाँ एक अन्धेरा कुँआ जिसमें सर्प व अजगर था, गिर पड़ा। वहाँ कुँए में एक वृक्ष था, जिसकी जड़ कुँए की दीवाल में थी। यह पुरुष उस जड़ को पकड़कर निराधार लटक गया, वहाँ नीचे अजगर तथा सर्प मुँह फाड़कर ताकने लगे कि यह पुरुष गिरे तो मैं भक्षण करूँ। वह जिस जड़ को पकड़कर निराधार लटकता था, उस जड़ को एक काला और दूसरा सफेद चूहा निरन्तर काटने लगा, इस पुरुष ने भय से वृक्ष को जोर

से पकड़ा तो वह वृक्ष कम्पायमान होने से उस वृक्ष में मधुमक्खी का छत्ता था, वह कम्पायमान होते सैकड़ों मधुमक्खी उड़कर इसके शरीर में चिपक गयी, उसकी घोर वेदना भोगता हुआ, ऊँचा मुँह करके यह कुँए में लटक रहा था, वहाँ मधु की एक बूँद मुँह में गिरी, उसका स्वाद लेने में यह सर्व दुःख भूल गया।

उसी समय आकाशमार्ग से एक विद्याधर विमान में जा रहा था, उसने इसके दुःख को देख अति दयावान हो आकाश से उतर कुँए के ऊपर आकर इस पुरुष को कहा-हे भद्र! चल, मेरा हाथ पकड़, मैं तुझे बाहर निकाल, विमान में बैठकर बहुत-सा धन देकर तेरे वांछितस्थान में पहुँचा दूँ, जल्दी कर, विलम्ब मत कर; तू जिस जड़ को पकड़कर लटक रहा है, सम्पूर्ण कट गयी है, टूटने की तैयारी है, टूटते ही नीचे अन्धकूप में गिरोगे जहाँ अजगर व सर्प मुँह फाड़कर



ताक रहे हैं, वे तुरन्त तुम्हें निगल जायेंगे, इसलिए जल्दी हाथ पकड़!

तब वह पुरुष बोला—यह शहद की एक बूँद लटक रही है, इसका स्वाद ले लूँ फिर चलूँगा। तब करुणावान विद्याधर बोला—अरे! मूर्ख, निर्लज्ज! इतना भयंकर दुःख सहता है फिर भी मरण को नहीं देखता। इस बूँद में क्या स्वाद है? जड़ कट गयी है, गिरने की तैयारी है, यह बूँद भी लटक रही है सो तेरे मुख में नहीं पड़ेगी और तू गिरकर अजगर के मुख में नष्ट हो जायगा, ऐसा बारम्बार कहने पर भी वह मूढ़ शहद की बूँद की आशा में 'एक बूँद एक बूँद' करते हुए विलम्ब करता रहा, इतने में वृक्ष की जड़ टूट गयी और वह अजगर के मुख में प्रविष्ट हो गया।

इसी प्रकार संसारी मिथ्यादृष्टि जीव संसाररूप वन में परिभ्रमण करता हुआ, पर्यायरूप अन्धकूप में पड़ा है, वहाँ अजगर समान निगोद है व चारगति समान चार सर्प हैं, वृक्ष की जड़समान इसकी आयुष्य है और रात व दिन समान काले व सफेद चूहे हैं, जो आयुष्य की जड़ काट रहे हैं, मोह की मक्षिकासमान कुटुम्बादिकों के तथा क्षुधा-तृषा के दुःख हैं और शहद की बूँद समान विषयों का सुख है, यहाँ विद्याधर के समान निष्कारण करुणाशील गुरु बारम्बार उपदेश देते हैं परन्तु शहद की बूँद की आशा समान विषयों की तृष्णा से संसार में डूब निगोद में जा पड़ता है।

— भगवती आराधना

पृष्ठ 15 का शेष

भूतार्थनय नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्य का एकपना प्रगट करनेवाला है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों की श्रद्धा, वह चैतन्य का एकपना प्रगट नहीं करती और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के व्यवहाररूप में स्थापित किया जाता है किन्तु उसके द्वारा अभेद स्वभाव में एकता नहीं होती। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही आत्मा का एकपना प्राप्त होता है। अभेदस्वभाव के आश्रय से आत्मा में एकपना प्राप्त करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वह प्रथम धर्म है। ●



यादें : अतीत की.....

.....तब पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था

देव-गुरु-धर्म को किसी की भक्ति की आवश्यकता नहीं, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिये-

**सत का बहुमान हुए बिना नहीं रहता**

आत्मा प्रिय हुआ कब कहा जाता है, अर्थात् यह कब कहा जाता है कि आत्मा की कीमत या प्रतिष्ठा हुई? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं—ऐसे अरहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिए। किन्तु विषय-कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग है, उसे दूर करके सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिये भी जो जीव, मन्दराग नहीं कर सकते, वे जीव बिल्कुल रागरहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा कहाँ से पा सकेंगे?

जिसमें परम उपकारी वीतरागी देव-गुरु धर्म के लिये भी राग कम करने की भावना नहीं है, वह अपने आत्मा के लिये राग का बिल्कुल अभाव कैसे कर सकेगा? जिसमें दो पाई देने की शक्ति नहीं है, वह दो लाख रुपया क्यों कर दे सकेगा? उसी प्रकार जिसे देव-गुरु की सच्ची प्रीति नहीं है—व्यवहार में भी अभी जो राग कम नहीं कर सकता, वह निश्चय में यह कैसे और कहाँ से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप ही नहीं है।'

जिसे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सच्चा नहीं है, मात्र अकेले मूढ़ भाव की ही पुष्टि होती है—वह केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिक दशा में देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जागृत होता है और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि देव-गुरु-धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित हो जाऊँ, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूँ तो भी उनके उपकार से उन्नत नहीं हो सकता। इस तरह



की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये बिना देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती और देव-गुरु-धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता के बिना आये तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरुचरणों में अर्पित हो जा! पश्चात् गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एक बार तो तू सत् की शरण में झुक जा, और यह स्वीकार कर की उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यकता नहीं है, तू स्वयं ही अपने ओर देख; यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एकबार सत्-चरण में समर्पित हो जा। सच्चे देव-गुरु के प्रति समर्पित हुए बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता-किन्तु यदि उसी का आश्रय मानकर बैठ जाय तो भी पराश्रय होने के कारण आत्मा का उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थस्वरूप में तो भगवान आत्मा अकेला ही है, परन्तु वह परमार्थस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक पहले देव-गुरु-शास्त्र को स्वस्वरूप के आँगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना केवल निश्चय की मात्र बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

देव-गुरु-धर्म को तेरी भक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिये सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि 'यद्यपि ज्ञानी भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये बिना मुमुक्षु जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। सन्तों के हृदय में निवास करनेवाला यह गुप्त रहस्य यहाँ खोल कर रख दिया गया है।' सत् के जिज्ञासु को सत् निमित्तरूप सत् पुरुष की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।



पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो! अभी तक तो असंग चैतन्य ज्योत आत्मा की बात ही नहीं बनी और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से भी अलग रहा। इतना समय बीत गया। इस प्रकार जिज्ञासु को पहले की भूल का पश्चात्ताप होता है और वर्तमान में उल्लास जागृत होता है। किन्तु यह देव-गुरु-शास्त्र का राग, आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर “यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है” इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

सच पूछा जाय तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ और उनका कहा हुआ सुना तक नहीं। अन्यथा देव-गुरु-शास्त्र तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतन्त्र है। यदि देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव-गुरु-शास्त्र के चरणों में तन-मन-धन समर्पण किये बिना-जिसमें सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है-ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा ?

अहो! जगत को वस्त्र, मकान, धन आदि से बड़प्पन मालूम होता है, परन्तु जो जगत का कल्याण कर रहे हैं—ऐसे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति-समर्पण भाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धार की कल्पना भी कैसी ?

**प्रश्न** - आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है, फिर भी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग करने के लिये क्यों कहते हैं ?

**उत्तर** - जैसे किसी म्लेच्छ को माँस छुड़ाने का उपदेश देने के लिए म्लेच्छ भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसी प्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ाने के लिये उसे अशुभराग से हटाकर देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जाता है। (वहाँ राग कराने का हेतु नहीं है, किन्तु राग छुड़ाने का हेतु है। जितना राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है। राग रहे, यह प्रयोजन नहीं है।)



## यह मनुष्यत्व प्राप्त करके क्या करने योग्य है ?

( चोटीला ग्राम में पद्मनन्दि पंचविंशतिका गाथा 12 पर

पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन )

आत्मा के यथावत् स्वरूप का यथार्थ ज्ञान जीव ने अनन्त काल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया। अनादि से पुण्य-पाप के आचरण करके उसी को अपना स्वरूप माना है। पुण्य-पाप रहित निर्मल चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है और जिस प्रकार नट लोग भेष को अपना स्वरूप मानते हैं उसी प्रकार यह जीव विकार को ही अपना स्वरूप मान रहा है। भगवान ने पुण्य-पाप रहित निर्मलानन्द आत्मस्वभाव कहा है-उसे जाने तो मुक्ति हुए बिना न रहे। आत्मा में पूर्ण जानने की शक्ति है। भगवान सब के ज्ञाता हैं लेकिन किसी का कुछ करनेवाले नहीं हैं। आत्मा अपने को भूलकर अनन्त काल से अवतारों में परिभ्रमण कर रहा है, वह अवतार कैसे दूर हों उसकी यह बात है। पूर्व में जीव ने आत्मस्वभाव की बात सुनी है परन्तु अन्तर में उसकी रुचि नहीं की है। भाई! तूने अनन्त काल में आत्मा को नहीं समझा है; वह अपूर्व है, मन-वाणी-देह रहित ज्ञानमूर्ति स्वभाव है, उसकी सत्समागम से पहिचान कर! मनुष्यत्व प्राप्त करके यह करने योग्य है। यह शरीर तो राख हो जायेगा, और आत्मा अन्यत्र कहीं चला जायेगा-उस आत्मा का स्वरूप क्या है, उसे जान!

इस जगत में अज्ञानीजन आत्मा की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करते हैं। जिस प्रकार अन्धे लोग हाथी को देखते हैं वहाँ जिसके हाथ में पैर आया वह कहता है कि हाथी खम्भे जैसा है, जिसके हाथ में सूँठ आई वह कहता है कि हाथी संबल जैसा है, जिसके हाथ में कान आया वह कहता है कि हाथी सूप जैसा है, जिसके हाथ में पूँछ आई वह कहता है कि हाथी झाड़ू जैसा है। इस प्रकार वे अन्ध लोग हाथी के एक-एक अंग को ही आत्मा मानते हैं; क्योंकि उन्होंने सम्पूर्ण हाथी को नहीं देखा है। उसी प्रकार आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानी एक पक्ष को ही आत्मा मान लेते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्वच्छता, प्रभुता



इत्यादि अनन्त धर्म हैं; वैसे आत्मा को जो नहीं जानते वे उसे एकान्त नित्य या सर्वथा क्षणिक मानते हैं। कोई रागादि को आत्मा मानते हैं, परन्तु शरीर और रागादि से भिन्न परिपूर्ण आत्मा कैसा है, उसे अनन्त काल में एक क्षणमात्र भी नहीं जाना। यदि आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को एक क्षणमात्र भी जाने तो सम्यग्ज्ञान होकर मुक्ति हुए बिना रहे। इसलिए इस मनुष्यभवं में यही करनेयोग्य है।

भगवान् सर्वज्ञदेव कहते हैं कि भाई! जो हमारे आत्मा की जाति है, वही तुम्हारी है। हमारा और तुम्हारा आत्मा पृथक् है, परन्तु जाति एक ही है। जिस प्रकार गेहूँ के बारे में प्रत्येक दाना भिन्न-भिन्न है परन्तु सबकी जाति एक ही है। उसी प्रकार इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे प्रत्येक पृथक् हैं; किन्तु उनकी जाति एक है। प्रत्येक आत्मा में सिद्ध भगवान् जैसी परिपूर्ण शक्ति भरी पड़ी है; उसे भूलकर अज्ञानी जीव पर में और पुण्य-पाप में सुख मानता है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य सूँढ़ को ही हाथी मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी क्षणिक पुण्य की वृत्ति में ही सुख मानता है, अर्थात् वह विकार को ही आत्मा मानता है, उसे आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता, परन्तु विकार का स्वाद आता है। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। जिस प्रकार आँख खुलने पर सम्पूर्ण हाथी दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जब सत्समागम से भान किया कि यह पुण्य-पाप तो मेरे स्वभाव की विपरीतदशा है, उसमें दुःख है, यह मेरा स्वरूप नहीं है; पुण्य-पापरहित मेरे स्वभाव में सुख है-ऐसा जानकर सम्यग्ज्ञान प्रगट करने से आत्मा ज्ञात होता है। भाई! ऐसा मनुष्य भव प्राप्त करके सच्चा ज्ञानरूपी डोरा अपने आत्मा में पिरो ले तो तेरा आत्मा संसार में नहीं खोयेगा। जिस प्रकार सुई में डोरा पिरोया हो तो वह कूड़े में नहीं खो सकती, उसी प्रकार जो आत्मा के सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले वह जीव इस संसार के अवतारों में परिभ्रमण नहीं कर सकता।

अज्ञानी जीव, त्रिकाल निर्मल आत्मा को भूलकर विकार को ही आत्मा मानता है-वह उस अन्ध मनुष्य की तरह एकान्तवादी है, और





आत्मा की अवस्था में विकार होता है वह अपना दोष है; उस क्षणिक दोष को न जाने और आत्मा को एकान्त शुद्ध माने वह भी एकान्तवादी-अज्ञानी है। क्षणिक अवस्था में विकार है और त्रिकालस्वरूप विकारीरहित निर्मल है-इस प्रकार दोनों पक्ष जानकर सम्यग्ज्ञान प्रगट करना चाहिए। आत्मा में ज्ञानस्वभाव भरा हुआ है, पचास वर्ष पूर्व की बात जानने के लिए ज्ञान को समय नहीं लगता। जिस प्रकार कल की बात याद करता है, उसी प्रकार पचास वर्ष पहले की बात याद करता है-ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है और यदि वह ज्ञान आगे बढ़े तो इस भव, पूर्व भव और अनन्त काल का ज्ञान करे ऐसी आत्मा की शक्ति है। खाते-बही में तो पाने उलटना पड़ते हैं, परन्तु ज्ञान में पाने नहीं उलटना पड़ते। ज्ञान का स्वभाव एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानने की शक्तिवाला है और ज्ञान में अधिक जानने से भार मालूम नहीं पड़ता। त्रिकालस्वभाव में से ज्ञान का प्रवाह आता है। अज्ञानियों को अनन्त काल से चैतन्य सामर्थ्य की महिमा नहीं आयी है, जो चैतन्य सामर्थ्य की महिमा जान ले उसे सम्यग्ज्ञान हुए बिना न रहे, और एक क्षण भी ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, उसे जन्म-मरण का नाश हुए बिना न रहे।

धर्म अन्तर की अपूर्व वस्तु है, वह बाहर से जानी जा सके, वैसी नहीं है। ऐसे आत्मा का भान होने के पश्चात् धर्मी जीव स्त्री-पुत्रादि के संयोग के बीच में हो, परन्तु जिस प्रकार मुर्दे पर श्रृंगार किया हो तो उससे कहीं मुर्दा राजी नहीं होता, उसी प्रकार धर्मी जीव की बाह्य संयोग की और राग की अन्तर में प्रीति नहीं है; उसे पर का अहंकार अन्तर में से उड़ गया है; गृहस्थपने में होने पर भी वह धर्मी है और आत्मा की पहिचान के बिना त्यागी हो तथा शुभभाव करके उसका अहंकार करे वह अधर्मी है, वह संसार में परिभ्रमण करता है।

‘भाई! तू चैतन्य है, तुझ में सुख भरा हुआ है, परन्तु उसे भूलकर तुझे बाह्य में सुख की कल्पना हो गयी है। भाई! तेरा सुख बाह्य में नहीं है; बाह्य के लक्ष्य से क्षणिक शुभाशुभ विकार होता है, उसमें भी तेरा सुख नहीं है। अन्तर में विकाररहित स्थायी ज्ञान-स्वभाव है, उस स्वभाव में तेरा सुख है।



आत्मा अतिशय चैतन्य का भण्डार है; कल का पापी भी आज धर्म प्राप्त कर लेता है; शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि राजा लोग जंगल में शिकार खेलने गये, वहाँ मुनि का समागम होने से आत्मभान प्राप्त करके धर्मी हो गये हैं। अनन्त काल में प्रत्येक जीव ने महान पाप किए हैं, परन्तु यदि सत्य को समझना चाहे तो एक क्षण में समझकर धर्म प्राप्त कर सकता है। धर्मी जीवों ने अन्तर में चैतन्य की क्रिया की है; अज्ञानी जीव उनकी बाह्य क्रिया और पुण्य की नकल करके धर्म मानते हैं परन्तु अन्तर में देह से और पुण्य से भिन्न क्या तत्त्व है—उसकी पहिचान करके उसमें एकाग्रता की क्रिया से ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अतिशय चैतन्यरूपी तेज से परिपूर्ण है, वह तुम्हारी रक्षा करे अर्थात् जब उसे पहिचानकर अनादि का अज्ञान टालना चाहे तब टल सकता है। अनादि का अज्ञान एक क्षण में दूर हो जाता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि अतिशय चैतन्य तेज से परिपूर्ण आत्मा का जयवन्त प्रवर्तमान रहे ! हे आत्माओं ! इसकी तुम पहिचान करो, वह तुम्हारी रक्षा करेगा ! चैतन्यशक्ति में केवलज्ञान भरा हुआ है उसका विश्वास करो ! यह मनुष्यत्व प्राप्त करके यही करनेयोग्य है।

( आत्मधर्म, वर्ष-6, अंक-2, ज्येष्ठ 2476, पृष्ठ 50-53 )

पृष्ठ 22 का शेष

उसके बाद 'देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार राग का निषेध करके वीतराग स्वरूप की श्रद्धा करने लगता है।

हे प्रभु ! पहले जिनने प्रभुता प्रगट की है—ऐसे देव-गुरु की भक्ति, बड़प्पन न आवे और जगत का बड़प्पन दिखायी दे, तब तक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा तो जीव अनन्त बार कर चुका परन्तु इस आत्मा की श्रद्धा अनन्त काल से नहीं की है—परमार्थ को नहीं समझा है। शुभराग में अटक गया है।

( आत्मधर्म, वर्ष-1, अंक-2, ज्येष्ठ : 2002, जून 1945 )



पण्डितजी की डायरी

## सम्यग्दर्शन का राजमार्ग

**प्रश्न** - राजमार्ग क्या है - जिसको अङ्गीकार करने पर सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होकर क्रम से सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

**उत्तर** - (1) प्रथम तो देवादिक का श्रद्धान हो, (2) फिर तत्त्वों का विचार हो, (3) फिर स्व-पर का चिन्तन करे, (4) फिर आत्मचिन्तन करें - इस अनुक्रम से अङ्गीकार करने पर परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर क्रम से सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

**प्रश्न** - देवादिक का श्रद्धान व तत्त्वों का विचार आदि होने पर भी हमें धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

**उत्तर** - जिसके मिथ्यात्व का उदय है, उसके विपरीताभिनवेश पाया जाता है। उसके ये लक्षण — देवादिक का श्रद्धान, सात तत्त्वों का विचार, स्व-पर का विचार व आत्मविचार — ये लक्षण आभासमात्र होते हैं; सच्चे नहीं होते।

**प्रश्न** - मिथ्यादृष्टि के लक्षण आभासमात्र क्यों होते हैं; सच्चे क्यों नहीं होते ?

**उत्तर** - मिथ्यादृष्टि के विपरीताभिनवेश पाया जाता है। अतः जिनमत के जीवादिक तत्त्वों को मानता है, अन्यमत के तत्त्वों को नहीं मानता; उनके नाम भेदादिक सीखता है - ऐसा तत्त्वश्रद्धान होता है परन्तु उनके यथार्थ भाव का श्रद्धान नहीं होता; इस कारण उसके यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते।

**‘जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरथैं तिनमाहिं विपर्ययत्व।’**

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष - ये सात प्रयोजनभूत तत्व हैं। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्व है। जीवतत्व एकमात्र आश्रय करने योग्य प्रयोजनभूततत्व है। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे अजीवतत्व हैं; अजीवतत्व जानने योग्य



प्रयोजनभूततत्त्व हैं। शुभाशुभ-विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है; शुभाशुभ-विकारीभावों में अटकना, बन्धतत्त्व है; आस्रव व बन्धतत्त्व छोड़ने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। शुद्धि का प्रगट होना, संवरतत्त्व है; शुद्धि की वृद्धि होना, निर्जरातत्त्व है। संवर व निर्जरातत्त्व एकदेश प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना, मोक्षतत्त्व है। मोक्षतत्त्व पूर्ण प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है।

इस प्रकार जीवादिक तत्त्वों के नाम, भेदादिक सीखता है परन्तु जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता; अतः शास्त्राभ्यास करने पर भी ये लक्षण आभासमात्र ही होते हैं; सच्चे नहीं होते।

‘अपने को आपरूप जानकर, अपना अंश भी पर में न मिलाना और पर का अंश भी अपने में न मिलाना — ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं है; इसलिए ये लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते।’

( श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 225 )

**प्रश्न** - जीव-अजीवतत्त्वों के यथार्थभाव का श्रद्धान क्या है ?

**उत्तर** - तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका नाम भेदादिक सीखकर निश्चय करना मात्र ही नहीं है। वहाँ अभिप्राय ऐसा है - जीव-अजीव को पहचानकर, जैसा का तैसा माने।

**प्रश्न** - जैसा का तैसा माने - से क्या अभिप्राय है ?

**उत्तर** - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न हैं — ऐसा पहचानकर, निज जीव का अंश अजीव में न मिलाना और अजीव का अंश भी निज जीव में न मिलाना — यह है जैसा का तैसा मानना।

‘अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु आप है; मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण सहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे शरीरादि पुद्गल पर हैं। मुझ अमूर्तिक आत्मा का, रूपी पुद्गलों से सर्वथा



सम्बन्ध नहीं है - ऐसा मानना ही जैसा का तैसा मानने का अभिप्राय है।'

'मुझ आत्मा देखने-जाननेरूप चेतनागुण का धारक है, इन्द्रियगम्य न होने योग्य अमूर्तिक है, संकोच-विस्तार शक्तिसहित असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है। कैलाशचन्द्रशरीर, चेतनागुणरहित जड़ है, मूर्तिक है, अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है; इसलिए एक द्रव्य नहीं है, अनेक द्रव्य हैं। इनका अनादि सम्बन्ध है तो भी मुझ जीव का कोई प्रदेश, कैलाशचन्द्ररूप नहीं होता और कैलाशचन्द्र का कोई परमाणु, मुझ जीवरूप नहीं होता। अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।'

ऐसा माने, यह 'जैसा का तैसा मानने' का अभिप्राय है।

'निश्चय से मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है। उसकी पहचान, व्यवहारनय से शरीर से करायी। यहाँ व्यवहार से कैलाशचन्द्र आदि पर्यायों को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना।'

वर्तमान पर्याय तो जानने-देखने की शक्तिवाले मुझ जीव व स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाले पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसी को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादि को जीव कहा, सो कथनमात्र है। परमार्थ से कैलाशचन्द्र शरीरादि, जीव होते नहीं — ऐसा ही श्रद्धान करना। यह जैसा का तैसा मानने का अभिप्राय है।

( पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, मङ्गल देशना )

पृष्ठ 4 का शेष

चैतन्यस्वरूप के आश्रय से धर्मी को समाधि होती है। शरीर में रोग आये या निरोगी रहे-उन दोनों दशाओं में मैं तो उनसे भिन्न ही हूँ। इस प्रकार भिन्नता जानकर ज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता है। अजीव के एक अंश को भी अपना नहीं मानता; इसलिए वह चैतन्यस्वभाव में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार भेदज्ञान को मोक्ष का कारण जानकर, हे जीव! तू निरन्तर उसका उद्यम कर। ●



## आत्मा को प्रसन्न करने की धगश

अज्ञानी जीवों की बाह्यदृष्टि होने से वे ऐसा मानते हैं कि मैं पर का आश्रय लूँ तो धर्म हो... परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! उन सबका आश्रय छोड़कर तू अन्तर में तेरे आत्मा की श्रद्धा कर; आत्मा को प्रगट करने का आधार अन्तर में है। आत्मा की पवित्रता और आत्मा का आनन्द, आत्मा में से ही प्रगट होता है; बाहर से किसी काल भी प्रगट नहीं होता।

जीवों को यह बात कठिन पड़ती है; इसलिए मानो दूसरा रास्ता लेने से धर्म हो जायेगा! ऐसी उन्हें विपरीत शल्य बैठी है परन्तु भाई! अनन्त वर्षों तक तू बाहर में देखा कर तो भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होगा; इसलिए पर का आश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि करना - प्रेम करना... मनन करना... वही सत्स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है। इसलिए जो अपना हित चाहे, वह ऐसा करो - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जिसे अपना हित करना हो, उसे ऐसी गरज होगी। जिसे गरज नहीं है, उसकी तो बात ही नहीं है, क्योंकि जगत् के जीवों ने दुनिया प्रसन्न कैसे हो और दुनिया को रुचिकर कैसे हो? - ऐसा तो अनन्त बार किया है परन्तु मैं आत्मा वास्तविकरूप से प्रसन्न होऊँ और मेरे आत्मा को वास्तव में रुचिकर क्या है? - इसका कभी विचार भी नहीं किया, इसकी कभी दरकार भी नहीं की।

जिसे आत्मा को वास्तव में प्रसन्न करने की धगश जगी, वह आत्मा को प्रसन्न करके ही रहेगा और उसे प्रसन्न, अर्थात् आनन्दधाम में पहुँचाकर ही रहेगा।

यहाँ जगत के जीवों को प्रसन्न करने की बात नहीं है परन्तु जो अपना हित चाहता हो, उसे क्या करना - उसकी बात है। स्वयं का स्वभाव ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करे तो उसमें से कल्याण हो; इसके अतिरिक्त अन्य से कल्याण तीन काल-तीन लोक में होता ही नहीं।

( पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी )

समाचार-दर्शन**दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न**

**तीर्थधाम मङ्गलायतन :** आत्मसाधना का शाश्वत् पर्व दशलक्षण महापर्व दिनांक 09 से 18 सितम्बर 2013 तक अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर प्रतिदिन जिनमन्दिर में जिनेन्द्र-पूजन विधान का विशेष आयोजन पण्डित आशीष जैन शास्त्री के निर्देशन में मङ्गलार्थी छात्रों द्वारा सम्पन्न किया गया। तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री का 47 नयों पर मार्मिक सी.डी. प्रवचन का लाभ प्राप्त हुआ।

इस अवसर पर खनियांधाना से पधारे पण्डित सचिन जैन द्वारा प्रवचनसार में समागत 47 नयों, तत्त्वार्थसूत्र के दसों अध्याय तथा मोक्षमार्गप्रकाशक, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि के माध्यम से दश लक्षण धर्म पर आकर्षक शैली में हुए स्वाध्याय ने सभी का मन मोह लिया। प्रतिदिन जिनेन्द्रभक्ति एवं मङ्गलार्थी छात्रों द्वारा तैयार किये गये ज्ञानवर्धक सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भी सभी ने सराहना की। इस अवसर पर तीर्थधाम मङ्गलायतन के सुरम्य वातावरण में रहकर तत्त्वज्ञान अर्जित करने के उद्देश्य से अनेकों साधर्मियों यहाँ पधारे। इस प्रकार दश लक्षण महापर्व सानन्द सम्पन्न हुआ।

दश लक्षण पर्व के पावन अवसर पर तीर्थधाम मङ्गलायतन से पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन द्वारा साधनानगर इन्दौर; पण्डित संजय जैन शास्त्री द्वारा सीमन्धर जिनालय मुम्बई; पण्डित सुधीर जैन शास्त्री द्वारा सुरेन्द्रनगर गुजरात में स्वाध्याय का लाभ प्रदान किया गया। इन सभी के विस्तृत समाचार मङ्गलायतन टाइम्स में प्रकाशित किये गये हैं।

**दीपावली के अवसर पर आतिशबाजी का त्याग करें**

**तीर्थधाम मङ्गलायतन :** भगवान महावीर के निर्वाण पर्व दीपावली के पावन अवसर पर आतिशबाजी का त्याग करके लाखों जीवों के विनाश से बचिये, साथ ही करोड़ों रुपये के अपव्यय एवं ध्वनि तथा वायु प्रदूषण रोकने में सहायक होईये। दीपावली, अहिंसा के अवतार युगपुरुष महावीर भगवान का निर्वाण पर्व है। आतिशबाजी जैसे हिंसक उपक्रमों के माध्यम से इस पर्व को विकृत मत कीजिये।

निवेदक :

समस्त मङ्गलार्थी छात्र, भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, अलीगढ़।



## अवश्य पधारें : दीपावली शिविर में

**तीर्थधाम मङ्गलायतन** : कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन एवं श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति संयुक्तरूप से आयोजित पञ्च दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण शिविर एवं भगवान महावीरस्वामी निर्वाण महोत्सव का कार्यक्रम 30 अक्टूबर से 03 नवम्बर 2013 तक अनेक उपलब्धियों के साथ सम्पन्न होगा।

इस अवसर पर महावीरस्वामी पञ्च कल्याणक विधान का विशेष आयोजन किया गया है।

पञ्च दिवसीय महोत्सव में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भवतापनाशक मङ्गल सी.डी. प्रवचनों का लाभ तो प्राप्त होगा ही; साथ ही साथ इस अवसर पर स्वाध्याय एवं गोष्ठियों के कार्यक्रमों के अन्तर्गत पण्डित राजेन्द्रकुमार जैन, जबलपुर; ब्रह्मचारी सुमतप्रकाश जैन, खनियांधाना; पण्डित विमलदादा झांझरी, उज्जैन; पण्डित वीरेन्द्रकुमार जैन, आगरा; पण्डित प्रदीप झांझरी, उज्जैन; पण्डित बाबूभाई एन. मेहता, फतेपुर; पण्डित अरहंत झांझरी, उज्जैन; पण्डित नगेश जैन, पिडावा आदि के प्रासङ्गिक स्वाध्याय का लाभ प्राप्त होगा।

इस अवसर पर आप सभी को तीर्थधाम मङ्गलायतन पधारने का हार्दिक आमन्त्रण है। कृपया अपने पधारने की सूचना अविलम्ब प्रेषित करने का कष्ट करें।

## वैराग्य समाचार

**कानपुर** : मुमुक्षु समाज में सुप्रसिद्ध आत्मार्थीबन्धु श्री राजूभाई कानपुर का श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र में देहपरिवर्तन हो गया है। आप वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के परम उपासक एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तथा पण्डित कैलाशचन्द्रजी के प्रति अनन्य अहोभाव रखते थे। तीर्थधाम मङ्गलायतन के सभी विद्यार्थियों के प्रति भी आपका आत्मीय भाव था।

**मुम्बई** : अनिलभाई कामदार का देहपरिवर्तन शान्त परिणामों से हुआ है।

**इन्दौर** : श्री राजेन्द्र पहाड़िया का देहपरिवर्तन शान्त परिणामों से हुआ है।

दिवंगत साधर्मीजन वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की आराधनापूर्वक आत्मश्रेय को प्राप्त करें, इस भावना के साथ तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार, संतृप्त परिजनों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदनायें प्रेषित करता है।